प्राइवेट पब्लिक

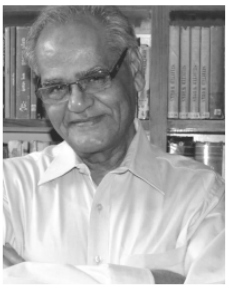

रमेश उपाध्याय

प्राइवेट पब्लिक

https://www.hindiadda.com/private-public/

प्रोफेसर, मैंने इसी क्षेत्र में अपनी सारी जिंदगी गुजारी है। मैंने टेलीफोन विभाग में नौकरी उस समय शुरू की थी, जब दूरसंचार की टेक्नोलॉजी आज के मुकाबले बहुत पिछड़ी हुई थी। मोबाइल फोन का तो तब तक आविष्कार ही नहीं हुआ था, लैंडलाइन फोन में भी आज की-सी सुविधाएँ नहीं थीं। एस.टी.डी., माने सब्स्क्राइबर ट्रंक डायलिंग और आइ.एस.डी., माने इंटरनेशनल सब्स्क्राइबर डायलिंग तो दूर, लोकल कॉल करने के लिए डायरेक्ट डायलिंग की सुविधा भी नहीं थी। लोकल कॉल करनी हो या ट्रंक कॉल, आप स्वयं नंबर मिलाकर बात नहीं कर सकते थे। टेलीफोन का उपकरण ऐसा होता था कि रिसीवर अलग, स्पीकर अलग। रिसीवर को कान पर लगाइए और स्पीकर को मुँह के सामने रखकर बोलिए - "हैलो, ऑपरेटर, प्लीज कनेक्ट मी टु..."

मैं एक छोटे शहर के छोटे-से टेलीफोन एक्सचेंज में ऑपरेटर था। उन दिनों टेलीफोन सिर्फ बड़े लोगों के पास होता था और उस छोटे शहर में बड़े लोग इने-गिने ही थे। इसलिए जब कोई फोन उठाकर बोलता कि कृपया अमुक जी, सर, साहब, मिस या मैडम से बात करा दीजिए, तो मैं उससे नंबर नहीं पूछता था, बल्कि अभिवादन करके हालचाल पूछता था और तुरंत नंबर मिलाकर बात करा देता था। मैं सबको जानता था और सबके नंबर मुझे याद रहते थे। यह तो बाद की बात है कि जब टेलीफोन का इस्तेमाल करने वालों की संख्या बढ़ गयी, टेलीफोन एक्सचेंज का विस्तार हो गया, लोकल कॉल और ट्रंक कॉल के लिए अलग-अलग ऑपरेटर रखे जाने लगे, और फिर उनकी संख्या भी बढ़ने लगी, तब मैं पूछने लगा - "नंबर प्लीज..."

लोग भी समझ गये कि अब नाम नहीं, नंबर ही चलेगा; इसलिए एक्सचेंज से नंबर मिलवाते समय वे कहने लगे - "हैलो, ऑपरेटर, पुट मी टु नंबर..."

मुझे मालूम था कि देश में कई जगह डायरेक्ट डायलिंग की नयी तकनीक आ चुकी है। दिल्ली में रहने वाले अपने मामा के घर में मैंने वह नया उपकरण भी देखा था, जिसमें एक से शून्य तक के अंकों वाला सफेद डायल लगा हुआ था और उसे घुमाकर कोई भी नंबर स्वयं डायल किया जा सकता था। अपने शहर के बिना डायल वाले उपकरणों के मुकाबले वह नया उपकरण मुझे बहुत सुंदर और सुविधाजनक लगा था। मैंने सोच लिया था कि अगर कभी मैं अपने घर में टेलीफोन लगवा सका, तो डायरेक्ट डायलिंग वाला नया उपकरण ही लगवाऊँगा। टेलीफोन एक्सचेंज में नौकरी मिलने पर दूसरे ऑपरेटरों की तरह मुझे भी एक मुफ्त कनेक्शन मिल गया था और एक पैसा भी खर्च किये बिना मेरे घर में टेलीफोन लग गया था। लेकिन उपकरण पुराना ही था - वही बिना डायल का।

"अपने यहाँ डायरेक्ट डायलिंग कब शुरू होगी?" मैंने एक दिन अपने एक साथी ऑपरेटर से पूछा था, "नयी तकनीक पहले बड़े शहरों में ही क्यों आती है? सब जगह एक साथ क्यों नहीं?"

"नाम मत लो उस नयी तकनीक का!" साथी ऑपरेटर ने बुरा-सा मुँह बनाकर कहा था।

"क्यों? उसमें क्या हर्ज है?" उसकी बात मेरी समझ में नहीं आयी थी।

"अरे, भाई, नयी तकनीक आयी कि हमारी-तुम्हारी नौकरी गयी। ऑपरेटर जिस काम के लिए रखे जाते हैं, वह काम ही नहीं रहेगा एक्सचेंज में, तो सरकार क्या हमें-तुम्हें खाली बिठाकर खिलायेगी? छँटनी हो जायेगी हम सबकी, छँटनी! समझे?"

"छँटनी?" मैं घबरा गया था। मगर अपने जवान खून में उबाल-सा महसूस करते हुए मैंने कहा था, "नयी तकनीक आती है, तो उसमें हमारा क्या दोष? सरकार को सोचना चाहिए कि उसके आने पर हमारा क्या होगा! उसका काम नौकरी देना है, दी हुई नौकरी को वापस छीन लेना नहीं!"

एक सीनियर ऑपरेटर बुद्धिप्रकाश ने बीच में हस्तक्षेप करते हुए कहा था, "हम चाहें या न चाहें, नयी तकनीक आकर रहेगी। नयी तकनीक एक जगह आ जाये, तो फिर सभी जगह आती है और वह जाने के लिए नहीं आती। जाती है, तो पुरानी होकर ही जाती है, जब उससे भी नयी तकनीक आ जाती है।"

एक ऑपरेटर ने कहा था, "दादा, जब पुरानी तकनीक से काम चल रहा है, तो नयी तकनीक क्यों?"

तब बुद्धिप्रकाश ने उसे समझाते हुए कहा था, "नयी तकनीक का आविष्कार अधिक लोगों द्वारा अधिक समय में किये जाने वाले काम को कम लोगों के द्वारा कम समय में कराने के लिए किया जाता है। मान लो, कोई कंपनी ऐसी मशीन ले आती है, जिससे दस आदमियों का काम एक आदमी, और सो भी दस दिनों का काम एक दिन में, कर सके; तो सोचो, कंपनी को कितना लाभ होगा!"

"हाँ, लेकिन इससे नौ आदमी नौ दिनों के लिए बेरोजगार हो जायेंगे, सो?" मैं एक नैतिक आक्रोश से भर उठा था।

"कंपनी को इससे कोई मतलब नहीं। बल्कि बेरोजगारी फैलेगी, तो उस एक आदमी के काम की भी कीमत कम हो जायेगी, जिससे कंपनी को और ज्यादा मुनाफा होगा। मान लो, टेलीफोन एक्सचेंज कोई प्राइवेट कंपनी चलाती है। डायरेक्ट डायलिंग से पहले वह बहुत-से ऑपरेटर रखती है। ऑपरेटरों को वह वेतन देती है, सालाना तरक्की देती है। भत्ते, बोनस, छुट्टियाँ और दूसरी सुविधाएँ देती है। इस सब पर उसका कितना खर्च होता है! फिर, एक्सचेंज में ऑपरेटरों को बिठाकर काम कराने पर भी उसका बहुत खर्च होता है - जगह-जमीन, बिल्डिंग-फर्नीचर, यंत्र-उपकरण, बिजली-पानी, रख-रखाव और देख-भाल वगैरह पर होने वाला खर्च। इसके अलावा, ऑपरेटर लाइन पर बैठा है तो दो-चार निजी फोन भी करेगा, अपने घर के लिए मुफ्त या सब्सिडाइज्ड कनेक्शन भी माँगेगा, भ्रष्ट हुआ तो चोरी या हेराफेरी करके कंपनी को नुकसान भी पहुँचायेगा। इसको भी ऑपरेटरों पर होने वाले खर्च में जोड़ो। डायरेक्ट डायलिंग हो जाने पर ऑपरेटरों की जरूरत नहीं रहती। कंपनी उन्हें निकाल देती है और यह सारा खर्च बचा लेती है - या यों कहो कि अपने मुनाफे में बदल लेती है।"

समझे, प्रोफेसर? इतने विद्वान आदमी थे बुद्धिप्रकाश! ...थे क्या, हैं, अभी जीवित हैं और दिल्ली में ही हैं। पर मैं कह रहा था कि वह जमाना ही और था। टेलीफोन एक्सचेंज के मामूली कर्मचारियों तक में ऐसे विद्वान मिल जाते थे, जो आज विश्वविद्यालयों में भी मिलने मुश्किल हैं! मैं भी मूर्ख नहीं था। मैंने बुद्धिप्रकाश से बाकायदा बहस की थी।

"लेकिन, दादा, सरकार तो कोई प्राइवेट कंपनी नहीं है!" मैंने उनसे कहा था।

"हाँ, अगर वह पब्लिक के इंटरेस्ट में काम करे। वर्ना अंग्रेजों की सरकार ने क्या किया? उसके रहते ही कई जगह डायरेक्ट डायलिंग हो गयी थी। उसने वहाँ के ऑपरेटरों को निकाल बाहर किया।" बुद्धिप्रकाश ने कहा, तो मैंने कहा, "लेकिन अब तो अपनी सरकार है।" इस पर वे बोले, "देखते हैं, अपनी सरकार क्या करती है!"

और अपनी सरकार ने भी टेलीफोन ऑपरेटरों के साथ वही किया, जो अंग्रेजों की सरकार ने किया था। ज्यों ही स्वचालित तकनीक वाला नया एक्सचेंज बनकर चालू हुआ, पुराने एक्सचेंज में काम करने वाले लोकल ऑपरेटरों की छँटनी का आदेश जारी कर दिया गया।

लेकिन एक फर्क आ चुका था। अंग्रेजों के जमाने में छँटनी के खिलाफ कोई बोल नहीं सका था। अब लोग बोल सकते थे और बोले। उन्होंने कहा, "नयी तकनीक से सरकार को बहुत लाभ होगा। वह हमें किसी और काम पर लगा सकती है। हम कोई भीख नहीं,

काम माँग रहे हैं। हम मनुष्य हैं, टेलीफोन के पुराने उपकरण नहीं कि हमें भी कबाड़खाने में फेंक दिया जाये!"

और तब हम ऑपरेटरों ने ही नहीं, सभी टेलीफोन कर्मचारियों ने संगठित होकर छँटनी का विरोध किया था। सरकार ने अड़ियल रुख दिखाया, तो हमने टेलीफोन का इस्तेमाल करने वाले लोगों के नाम एक अपील निकाली थी।

ठहरो, उस अपील की एक कॉपी अब भी मेरे पास है। मैंने सँभालकर रखी है। पता है, क्यों? उसको तैयार करने में मेरा भी कुछ हाथ था। बुद्धिप्रकाश बोलते गये थे और मैं लिखता गया था... देखो, यह है वह अपील। मैं पढ़कर सुनाता हूँ। लिखा है :

"हम नयी तकनीक के विरोधी नहीं हैं। हम यह नहीं चाहते कि डायरेक्ट डायलिंग की सुविधा आपसे छिन जाये और सरकार हमारी नौकरी बचाने के लिए नयी तकनीक छोड़कर पुरानी तकनीक की तरफ लौट जाये। हम जानते हैं कि यह असंभव है और जबर्दस्ती ऐसा किया गया, तो यह एक प्रतिगामी कदम होगा, जिससे हमारे देश को बड़ा नुकसान होगा। हम यह भी जानते हैं कि नयी तकनीक पर सरकार को बड़ा खर्च करना पड़ता है। मगर हम यह नहीं मानते कि उस खर्च की भरपाई ऑपरेटरों की छँटनी से हो सकती है, या कि नयी तकनीक से लोगों को बेरोजगार बनाना अनिवार्य है। नयी तकनीक पर जो खर्च होता है, उससे हजारों गुना अधिक लाभ होता है। सरकार उस लाभ से टेलीफोन सेवा का विकास और विस्तार कर सकती है। विकास और विस्तार के कामों में बहुत-से बेरोजगारों को लगाया जा सकता है और हमें भी बेरोजगार होने से बचाया जा सकता है।

"इस संबंध में हम टेलीफोन का इस्तेमाल करने वालों का ध्यान इस ओर खींचना चाहते हैं कि डायरेक्ट डायलिंग से वास्तव में हुआ क्या है! आप लोग बड़े खुश हैं कि अब आप हमारे जरिये नंबर मिलवाने की तवालत से बच गये। मगर आप शायद यह नहीं देख पा रहे हैं कि कल तक जो काम हम लोग करते थे, आज वही काम आप लोग कर रहे हैं। आपको पता भी नहीं चला और आप घर बैठे ही टेलीफोन विभाग के नौकर बन गये। सो भी कैसे नौकर? एक सुविधा के नाम पर बहलाकर धोखे से बनाये गये बिलकुल मुफ्त के नौकर! यह वैसे ही है, जैसे आप किसी रेस्तराँ में बेयरे को आर्डर देकर कॉफी मँगवाते हों और अचानक एक दिन वहाँ जाकर पायें कि बेयरों को नौकरी से निकाल दिया गया है और 'सेल्फ सर्विस' की तख्ती टाँग दी गयी है। सोचिए, वहाँ जब आप स्वयं जाकर अपनी कॉफी लेते हैं, तब वास्तव में क्या कर रहे होते हैं? बेयरों

वाला काम, जिसके बदले में आपको तो कुछ भी नहीं मिलता, पर बेयरों की नौकरी चली जाती है।

"हम जानते हैं कि टेलीफोन पर अपना नंबर स्वयं मिलाकर आप जो 'सेल्फ सर्विस' कर रहे हैं, वह एक प्रकार से देश की सेवा है, क्योंकि इससे देश को बहुत लाभ होता है। हमारा आपसे केवल यह अनुरोध है कि आप जब भी अपने टेलीफोन पर कोई नंबर डायल करें, कृपया हमारे बारे में सोचें। हमें नौकरी से इसलिए निकाला जा रहा है कि हमारे द्वारा किया जाने वाला काम आप लोग करने लगे हैं। आप देश की सेवा अवश्य करें, पर अनजाने में नहीं, सचेत होकर करें और देखें कि इससे देश में कहाँ, किसको और क्या लाभ हो रहा है! यदि आप महसूस करें कि उस लाभ में से कुछ हिस्सा हमें भी मिलना चाहिए, तो कृपया सरकार से कहें कि वह हमें कोई वैकल्पिक रोजगार देने की व्यवस्था करे।"

बोलो, प्रोफेसर, आज के बड़े-बड़े विद्वान लेखक भी ऐसी सुंदर अंग्रेजी में इतनी बढ़िया बातें लिख सकते हैं?

खैर, इस अपील का लोगों पर बड़ा अच्छा असर पड़ा था। हड़ताल की आशंका देख सरकार का रवैया भी बदल गया था। मैं और मेरे साथी ऑपरेटर छँटनी से बच गये थे। सरकार ने हमें और-और कामों पर लगा दिया था। किसी को नये एक्सचेंज में भेजा, किसी को कहीं और। बुद्धिप्रकाश को और मुझे टेलीफोन के यंत्र और उपकरण बनाने वाले एक संस्थान में काम करने के लिए दिल्ली भेज दिया गया।

मुझे छँटनी से बच जाने पर ऐसा लगा, जैसे क्रिकेट के खिलाड़ी को जीवनदान मिल गया हो। सरकार मुझे न्यायशील अंपायर की तरह लगी और जनता सहानुभूतिशील खेल-प्रेमियों की तरह। मैं देशभक्ति और जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना के साथ मन लगाकर मेहनत और ईमानदारी से अपना काम करने लगा। जैसे अच्छा खिलाड़ी जीवनदान पाने के बाद और भी अच्छे खेल का प्रदर्शन करता है।

माफ करना, प्रोफेसर, मैं बीच-बीच में अंग्रेजी बोलने लग जाता हूँ और क्रिकेट की बात तो हिंदी में कर ही नहीं पाता।

अच्छा, सरकारी संस्थानों के बारे में आम राय है कि वे घाटे में चलते हैं, लेकिन मैं जिस संस्थान में काम करता था, उसमें घाटा नहीं, हर साल करोड़ों रुपये का लाभ होता था और उसे 'सरकार का कमाऊ पूत' कहा जाता था। मुझे गर्व था कि मैं ऐसे संस्थान में काम करता हूँ।

मैं अपने मुँह मियाँ मिट्ठू नहीं बनना चाहता, प्रोफेसर, लेकिन तुमसे मेरी जान-पहचान जुमा-जुमा आठ दिन की है। इसलिए इतना तो बताना ही पड़ेगा कि मैं बुद्धिमान और परिश्रमी था, लेकिन महत्त्वाकांक्षी नहीं था। खुशामद और चापलूसी के बल पर दूसरों से आगे या ऊपर पहुँच जाने का कोई प्रयास मैंने कभी नहीं किया। समयानुसार अपने-आप-या कभी-कभी सबके साथ मिलकर आंदोलन वगैरह करने से - जो कुछ मिल जाता, मैं उसी में खुश और संतुष्ट रहता था। पिता की असमय मृत्यु हो जाने के कारण मुझे पढ़ाई छोड़कर नौकरी करनी पड़ी थी। मेरी नौकरी मामूली-से वेतन वाली छोटी-सी नौकरी थी, लेकिन मैंने अपने छोटे भाई-बहनों को पिता की तरह पाला, पढ़ा-लिखाकर आत्मनिर्भर बनाया और धूमधाम से सबके विवाह करने के बाद अपना विवाह किया। फिर मेरे अपने बच्चे हुए - पहले दो लड़कियाँ, उसके बाद दो लड़के। उन्हें भी मैंने अच्छी तरह पाला और पढ़ाया। दोनों बेटियों के हाथ पीले करते-करते मेरी उम्र ढल गयी। माँ की मृत्यु के बाद तो जैसे मैं अचानक स्वयं को बूढ़ा महसूस करने लगा।

दिल्ली में अपना मकान बनाने के लिए जमीन का एक टुकड़ा मैंने पहले ही ले रखा था। उस समय यह जगह, प्रोफेसर, जहाँ हम बैठे हैं, एकदम शहर के बाहर थी, इसलिए जमीन मुझे बहुत सस्ती मिल गयी थी। मगर देखते-देखते शहर फैल गया और यहाँ धनाढ्य लोगों के शानदार मकानों वाली कॉलोनी बस गयी। तब मैंने भी दफ्तर से लोन लेकर अपना यह छोटा-सा मकान बनवा लिया। मकान में एक आँगन और आँगन में पेड़-पौधे लगाने के लिए कुछ कच्ची जमीन जरूर हो, यह नक्शा शुरू से ही मेरे दिमाग में था और अपना मकान मैंने इसी नक्शे के मुताबिक बनवाया था। पत्नी और दोनों लड़कों के साथ मैं इस मकान में बहुत खुश था।

अब मुझे एक ही चिंता थी कि मेरे रिटायर होने तक लड़के अपने पैरों पर खड़े हो जायें। मगर मैंने विवाह देर से किया था, इसलिए लड़के अभी पढ़ ही रहे थे। फिर भी मैं ज्यादा चिंतित नहीं था। लड़के पढ़ाई में तेज थे और परीक्षाओं में अच्छे नंबरों से पास होते थे। सो मैं सोचता था, कहीं-न-कहीं तो लग ही जायेंगे। अपने दम पर मनचाही जगहें पा जायें तो ठीक, नहीं तो मेरे संस्थान में तो इन्हें छोटी-मोटी नौकरियाँ मिल ही जायेंगी। मेरे देखते-देखते संस्थान का काफी विकास और विस्तार हुआ था। कई शहरों में उसकी शाखाएँ खुल गयी थीं। उसका अनुसंधान और विकास विभाग तो कई ऐसे आविष्कार कर चुका था, जो भारत जैसे विकासशील देश के लिए गौरव की तथा विकसित देशों के लिए ईर्ष्या की वस्तु थे। मैं सोचता था कि ऐसे बढ़ते हुए संस्थान में क्या मेरे लड़कों को छोटी-मोटी नौकरियाँ भी नहीं मिलेंगी?

लेकिन अपनी नौकरी के अंतिम वर्षों में मेरा यह विश्वास डोल गया। अचानक न जाने क्या हुआ कि दुनिया बड़ी अविश्वसनीय तेजी के साथ बदलने लगी। सरकार ने अचानक अपनी आत्मनिर्भरता वाली नीति त्याग दी। उसने अरबों रुपये के विदेशी कर्ज ले लिये और कर्जों से जुड़ी शर्तों के अनुसार देश के दरवाजे विदेशी व्यापारियों के लिए खोल दिये। देशी और विदेशी पूँजीपतियों को तो वह हर तरह की सुविधाएँ देने लगी, लेकिन देश की जनता को प्राप्त सुविधाओं को उसने खर्च में कटौती करने के नाम पर बंद करना शुरू कर दिया। वह सार्वजनिक उद्यमों को बंद करने लगी और उन्हें निजी कंपनियों के हाथ बेचने लगी।

मेरे वाले संस्थान में भी अचानक बड़े-बड़े परिवर्तन होने लगे। जो यंत्र और उपकरण वहाँ अब तक मजे में बनते आ रहे थे, उन्हें सरकार अपने ही संस्थान से न लेकर बाहर से लेने लगी, जबकि बाहर से लेने पर वे बहुत महँगे पड़ते थे। सरकार दूरसंचार का देशव्यापी संजाल बिछाने जा रही थी, लेकिन यह काम वह अपने संस्थान के वैज्ञानिकों और इंजीनियरों से नहीं करा रही थी। वह इस काम के लिए देशी-विदेशी कंपनियों को बड़े-बड़े ठेके दे रही थी। कंपनियाँ इन ठेकों को पाने के लिए आपस में होड़ लगाकर घूस की बड़ी-बड़ी रकमें दे रही थीं। जहाँ अरबों-खरबों का लाभ कमाने की आशा हो, वहाँ लाखों और करोड़ों की घूस या दलाली देने में उनका क्या नुकसान था? पर इससे संस्थान में भ्रष्टाचार बड़ी तेजी से बढ़ा और जल्दी ही करोड़ों रुपये के घोटाले सामने आने लगे। जो संस्थान हमेशा लाभ में चलता था, अचानक घाटे में आ गया। इससे संस्थान के कर्मचारियों, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों और ईमानदार अधिकारियों में पहले तो बेचैनी फैली और फिर इसको रोक न पाने की विवशता से उत्पन्न हताशा। उनकी शिकायतों और सलाहों को सुनने वाला ही कोई नहीं था। वे जिससे बात करते, वही टका-सा जवाब दे देता, "सरकार की नीति बदल गयी है - राष्ट्रीयकरण नहीं, निजीकरण!"

लो, मैं फिर अंग्रेजी में बोलने लगा। क्या करूँ, प्रोफेसर, ऐसी बातें हिंदी में कहना मुझे नहीं आता।

हाँ, तो मैं बता रहा था कि मैंने जिस समय अपनी नौकरी शुरू की थी, टेलीफोन में लोकल कॉल के लिए भी डायरेक्ट डायलिंग नयी चीज थी। अब ऐसी नयी तकनीक आ गयी थी कि देश के दूसरे शहरों में ही नहीं, किसी भी देश के किसी भी शहर में बैठे लोगों से स्वयं नंबर मिलाकर बात की जा सकती थी। बिलकुल लोकल कॉल की तरह। टेलीफोन विभाग की शब्दावली में बड़ी तेजी से नये-नये शब्द जुड़ने लगे थे - एस.टी.डी., आइ.एस.डी., टेलैक्स, फैक्स, पेजर, सेल्यूलर और न जाने क्या-क्या!

एक दिन मैंने एक नया शब्द सुना - बल्कि अपनी टेलीफोन डायरेक्टरी में बाकायदा छपा हुआ देखा - प्राइवेट पब्लिक टेलीफोन। मैंने प्राइवेट टेलीफोन सुना था, पब्लिक टेलीफोन भी सुना था, लेकिन यह प्राइवेट पब्लिक टेलीफोन क्या? मैंने मालूम किया तो परिवर्तनों की एक शृंखला मेरी आँखों के सामने से गुजर गयी।

मुझे याद आया अपने शहर का वह पी.सी.ओ., माने पब्लिक कॉल ऑफिस, जहाँ लोग पैसा देकर फोन करने जाया करते थे। वहाँ एक सरकारी आदमी बैठता था, जो एक्सचेंज से नंबर मिलवाकर लोगों की बात कराता था और पैसा वसूल करता था।

फिर याद आया दिल्ली में डाकघर, अस्पताल और स्टेशन जैसी सार्वजनिक जगहों पर लगा रहने वाला वह काले रंग का बक्सा, जिसमें सिक्का डालकर स्थानीय टेलीफोन किया जा सकता था। हालाँकि दीवार या खंभे पर लटके उस बक्से को 'ऑफिस' नहीं कहा जा सकता था, फिर भी वह पी.सी.ओ. कहलाता था। उस बक्से की चाबी सरकार के पास रहती थी। सरकारी आदमी आता था और बक्सा खोलकर सिक्के निकाल ले जाता था।

फिर वह बक्सा निजी दफ्तरों और दुकानों में भी नजर आने लगा था। उन दफ्तरों और दुकानों के मालिक टेलीफोन विभाग के लोगों की मिलीभगत से अपने यहाँ सार्वजनिक टेलीफोन लगवा लेते और निजी टेलीफोन की तरह उसका इस्तेमाल करते, क्योंकि वे उस पर अपने कॉल रिसीव भी कर सकते थे। फिर बक्से की चाबी भी उन्हीं के पास रहने लगी। वे स्वयं सिक्के निकालते और टेलीफोन विभाग तक पहुँचा देते।

फिर मैंने यह भी देखा कि कुछ दुकानदार अपने निजी टेलीफोन को सार्वजनिक टेलीफोन की तरह इस्तेमाल होने देते हैं और एक कॉल पर दो या तीन कॉल का दाम वसूल करते हैं।

और अब मैं देख रहा था प्राइवेट पब्लिक टेलीफोन - जगह-जगह खुलते हुए एस.टी.डी. और आइ.एस.डी. वाले टेलीफोन बूथ - जहाँ से देश या विदेश में कहीं भी फोन किया जा सकता था। सेवा सार्वजनिक थी, लेकिन बूथ का स्वामित्व और संचालन निजी। बूथ का मालिक या उसका नौकर वहाँ बैठा रहता था। लोग फोन करने आते और जहाँ चाहते, जितनी देर चाहते, स्वयं नंबर मिलाकर बात कर लेते। कंप्यूटराइज्ड मशीन तुरंत बता देती कि उन्होंने कितनी देर बात की है और उसका कितना पैसा हुआ। बूथ का मालिक या उसका नौकर उनसे पैसा वसूल कर लेता। टेलीफोन का बिल आता, तो बूथ का मालिक अपना तयशुदा कमीशन काटकर बाकी रकम का भुगतान कर देता।

लोगों ने बताया कि इस धंधे में बहुत फायदा है, इसीलिए शहर में जगह-जगह ऐसे प्राइवेट पी.सी.ओ. धड़ाधड़ खुल रहे हैं। दुकानों में ही नहीं, लोगों के घरों तक में!

मेरे साथी बुद्धिप्रकाश कई साल पहले रिटायर हो चुके थे, लेकिन मेरी-उनकी मित्रता बराबर बनी हुई थी। कभी मैं उनके घर जाकर उनसे मिल आता, कभी वे मुझसे मिलने चले आते। फोन पर तो उनसे मेरी बातचीत होती ही रहती थी।

एक दिन मैंने बातों ही बातों में कहा, "प्राइवेट पब्लिक टेलीफोन - यह नयी चीज देख रहे हैं, दादा?"

"देख रहा हूँ, शिवदत्त!" बुद्धिप्रकाश ने किंचित् व्यंग्यपूर्ण मुस्कान के साथ कहा, "एक तरह से यह वही सार्वजनिक टेलीफोन है, जो पहले पी.सी.ओ. कहलाता था - पब्लिक कॉल ऑफिस। फर्क यही है कि इसको चलाने वाला आदमी सरकारी नौकर नहीं होता। सरकार अपने बूथ बनाकर उन पर अपने आदमी रखती, तो उसे लाखों लोगों को नौकरी पर रखना पड़ता!"

"यह तो अच्छा ही होता, दादा! लाखों लोगों को रोजगार मिलता!"

"हाँ, लेकिन सरकार को अपने देश के बेरोजगारों को रोजगार देने की चिंता नहीं, देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाने की चिंता है। प्राइवेट लोगों को कमीशन देकर काम कराने के मुकाबले नौकर रखना महँगा पड़ता है। उससे टेलीफोन सेवा महँगी होती है और पूँजीपतियों का मुनाफा कम हो जाता है। इसलिए पूँजीपतियों का हित चाहने वाली सरकार आम आदमी से कहती है कि ले, कनेक्शन ले, अपना बूथ बना, कमीशन पर काम कर और यह समझ कि तू नौकर नहीं, मालिक है!"

"आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं। ऐसे बूथ चलाने वाले स्वयं को एक तरह का दुकानदार या व्यापारी समझते हैं - सेल्फ-एम्प्लायड। लेकिन ये वास्तव में हैं तो एक तरह के सरकारी नौकर ही।"

"नहीं, शिवदत्त, सरकारी नौकर नहीं, ये उन देशी-विदेशी पूँजीपतियों के नौकर हैं, जिन्हें दूरसंचार का विश्वव्यापी तंत्र तो चाहिए, लेकिन उस तंत्र में लोगों को बाकायदा रोजगार देकर अपना खर्च बढ़ाना या मुनाफा कम करना मंजूर नहीं। वे अपने इन नौकरों को न तो किसी ग्रेड के मुताबिक वेतन देते हैं, न कोई भत्ता। न तरक्की, न पेंशन। न पी.एफ., न ग्रेच्युटी, न और कुछ। इन लोगों के न तो काम के घंटे निश्चित हैं, न इन्हें छुट्टियाँ मिलती हैं, न कोई और सुविधाएँ। यहाँ तक कि ये लोग जिस

जगह बूथ बनाकर बैठते हैं, वह भी इनकी अपनी या किराये की होती है। जरा सोचो, दूरसंचार विभाग के एक मामूली से मामूली कर्मचारी की तुलना में भी इन्हें कितना कम मिलता होगा! इनकी दैनिक आमदनी उसकी तुलना में भले ही कुछ अधिक दिखती हो, पर वास्तविक आय देखो तो कितनी कम होती है! बहुत कम! बहुत ही कम! कितना भारी शोषण होता है इनका!"

"लेकिन, दादा, टेलीफोन विभाग तो भारत सरकार के ही हाथ में है। उसका निजीकरण तो नहीं हो गया है कि वह अपने काम लोगों को नौकरी पर न रखकर ठेके पर कराये। प्राइवेट पब्लिक टेलीफोन तो एक तरह से ठेके पर काम कराना ही हुआ! नहीं? सरकार कह रही है कि दूरसंचार के क्षेत्र में क्रांति हो रही है, लेकिन यह कैसी क्रांति है कि टेलीफोन विभाग का काम तो दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा है, लेकिन विभाग में काम करने वालों की संख्या उस अनुपात में नहीं बढ़ रही है। सरकार उस काम के लिए लोगों को रोजगार देकर पब्लिक सेक्टर का विकास और विस्तार करने के बजाय अपने काम प्राइवेट सेक्टर से क्यों करा रही है?"

बुद्धिप्रकाश थोड़ी देर पुराने दिनों को याद करते रहे, फिर अचानक बोले, "जानते हो, शिवदत्त, यह दूरसंचार की क्रांति क्या है? लूट की नयी तकनीक का विकास। इसके जरिये लुटेरों ने सारी दुनिया को अपना कारखाना और बाजार बना लिया है। अब वे अपना माल अपने देश में बनाकर दूसरे देशों में बेचने के अलावा बहुत-सा माल वहीं जाकर बनाने और बेचने लगे हैं, जहाँ उसे बनाने में खर्च न्यूनतम और बेचने में लाभ अधिकतम हो। फिर, आज उनका सबसे बड़ा कारोबार तो वित्तीय पूँजी का हो गया है, जिसे चलाने के लिए त्वरित दूरसंचार उनके लिए अनिवार्य है। आनन-फानन बड़ी-बड़ी रकमें इधर से उधर करने, सूचनाएँ लेने-देने और जरूरत पड़े तो युद्ध वगैरह करने के लिए लुटेरों को ऐसा विश्वव्यापी तंत्र चाहिए, जिससे वे धरती के किसी भी छोर से दूसरे किसी भी छोर पर तुरंत संपर्क कर सकें। इस तंत्र से उनकी गति और शक्ति हजारों-लाखों गुना बढ़ गयी है। लूट भी हजारों-लाखों गुना बढ़ी है। मगर वे इस तंत्र को स्वयं बनाने और चलाने का खर्च नहीं उठाना चाहते। वे इसका बोझ उन्हीं देशों की जनता पर डाल देते हैं, जिनको लूटते हैं।"

"लेकिन, दादा, यह जानते हुए भी कि वे हमें लूट रहे हैं, हमारी सरकार हमारे देश की जनता को क्यों लुटने दे रही है? क्या उसे दिखायी नहीं देता कि जनता को लूटा जा रहा है?" मैंने बुद्धिप्रकाश से सहमत होते हुए आक्रोशपूर्वक कहा।

बुद्धिप्रकाश मुझे समझाते हुए बोले, "तुम भूल रहे हो कि लुटने वाले देशों के अंदर भी अपने लोगों को लूटने वाले होते हैं। आजादी के बाद हमारे अपने लुटेरों ने सोचा था कि भारत की जनता को सिर्फ हम लूटेंगे, बाहर वालों को नहीं लूटने देंगे। इसीलिए वे आत्मनिर्भरता की बातें करते थे। अब चूँकि वे शक्तिशाली हो गये हैं और दूसरे गरीब देशों को भी लूटना चाहते हैं, इसलिए बाहर के लुटेरों से कह रहे हैं कि लो, हमने अपने देश के दरवाजे खोल दिये। आओ, तुम भी इस देश की जनता को लूटो, लेकिन बदले में हमें भी यह छूट दो कि हम भी दूसरे देशों की जनता को लूट सकें।"

मैं भी इस चीज को समझ तो रहा था, लेकिन इतनी स्पष्टता से नहीं। बुद्धिप्रकाश की बातें सुनकर मुझे लगा कि मैंने कुछ नया नहीं सुना, इन बातों को तो मैं पहले से ही जानता था। फिर भी मैं स्तब्ध-सा होकर कुछ देर के लिए चुप रह गया।

बुद्धिप्रकाश ठंडी साँस भरते हुए बोले, "जनता लुट रही है, फिर भी कहीं कोई विरोध या प्रतिरोध नहीं हो रहा है।"

मैं सत्तर साल के उस आदमी को, जो हमारे संस्थान के कर्मचारी संगठन का बड़ा जुझारू कार्यकर्ता रहा था, दुखी नहीं देखना चाहता था। इसलिए मैंने कहा, "क्या हमें जनता की लूट प्रत्यक्ष दिखायी देती है? हम स्वयं कहाँ-कहाँ और किस-किस तरह लुटते हैं, हमें पता चलता है? तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि लूट का विरोध या प्रतिरोध भी हमें प्रत्यक्ष न दिखायी देता हो? अपने घर में रखा हुआ टेलीफोन हमें एक मामूली-सी चीज लगता है, लेकिन वह हमें कहाँ-कहाँ से जोड़े हुए है और कहाँ-कहाँ से जोड़ सकता है, इस पर विचार करें, तो शायद लगे कि वह एक अत्यंत शक्तिशाली विस्फोटक भी हो सकता है। दादा, मैं कोई भविष्यवक्ता नहीं हूँ, लेकिन मेरा अनुमान है कि दूरसंचार की यही तकनीक, जो आज लूट की तकनीक है, कल शायद लूट के खात्मे की तकनीक होगी। आज इसने लूटने वालों को एक किया हुआ है, कल यह लुटने वालों को भी एक कर सकती है।"

यह सुनकर बुद्धिप्रकाश को शायद कुछ राहत-सी मिली, लेकिन मैंने देखा कि उनकी बेचैनी कम नहीं हुई है। शायद उन्हें लगा कि यह शिवदत्त कल्पनाओं में जीता है - असंभव कल्पनाओं में - और आज के यथार्थ को नहीं देखता।

लेकिन, प्रोफेसर, जिस आदमी के दो जवान लड़के पढ़-लिखकर बेरोजगार घूम रहे हों, वह यथार्थ को कैसे नहीं देखेगा? उसे तो यथार्थ को देखना ही पड़ेगा!

एक दिन फिर बुद्धिप्रकाश से भेंट हुई, तो मैंने अपने लड़कों की बेरोजगारी का जिक्र करते हुए कहा, "दादा, सरकारी नौकरियाँ खत्म होती जा रही हैं और ऐसा लगता है, जैसे किसी को कोई परवाह ही नहीं है। लोग या तो अपना धंधा करना चाहते हैं, या प्राइवेट नौकरी। सोचते हैं कि उसमें ज्यादा फायदा है। यह नहीं देखते कि प्राइवेट नौकरी में कितना नुकसान है! मालिक आज किसी को रखता है, कल निकाल देता है। नौकर भी दूसरी जगह चार पैसे ज्यादा देखकर चला जाता है। विदेशों में पैसा ज्यादा मिलता है, इसलिए आजकल जो भी लड़का किसी लायक हो जाता है, विदेश भाग जाना चाहता है या यहीं किसी मल्टीनेशनल कंपनी में लग जाना चाहता है।"

मैंने तो एक सामान्य बात कही थी, लेकिन कहते ही मुझे अहसास हो गया कि बात व्यक्तिगत हो गयी है। बुद्धिप्रकाश का सबसे छोटा लड़का पंकज एक मल्टीनेशनल कंपनी में काम करता है।

लेकिन बुद्धिप्रकाश ने बुरा नहीं माना, बल्कि मेरी बात को ही आगे बढ़ाते हुए कहा, "दूर क्यों जाते हो, पंकज को ही देख लो। उसके दोनों भाई परमानेंट सरकारी नौकरियाँ कर रहे हैं, यह उसे अच्छा नहीं लगता। वह उनसे कहता है - तुममें गट्स नहीं हैं, तुम एंबीशस नहीं हो, कंपीट नहीं कर सकते, इसलिए सरकारी नौकरियों में पड़े सड़ रहे हो। वे दोनों जवाब नहीं दे पाते, खामोश हो जाते हैं; क्योंकि वे सात-आठ साल की नौकरी के बाद भी बीस हजार कमाने तक नहीं पहुँचे हैं, जबकि वह तीन साल में ही पाँच नौकरियाँ बदल कर साठ हजार रुपये मासिक कमाने की स्थिति में पहुँच गया है। लेकिन मैं उसे जवाब दे सकता हूँ। देता भी हूँ। कहता हूँ - तुम रुपया जरूर ज्यादा कमा रहे हो, लेकिन तुम्हें पता नहीं कि उसके बदले में तुम अपना क्या-क्या गँवा रहे हो! तुम्हारे जीवन में सुख नहीं, शांति नहीं, प्रेम नहीं; क्योंकि तुम्हारी नौकरी में कोई स्थायित्व नहीं। अस्थायित्व के कारण तुम्हारी मनुष्यता भी मर रही है। तुम स्वयं को इस देश का नागरिक नहीं समझते। इसलिए देशभक्ति और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावनाओं का तुम्हारे लिए कोई मतलब ही नहीं है। तुम्हें इस देश की हर चीज गंदी, भद्दी, पिछड़ी हुई और बेकार लगती है। इसीलिए तुम्हें अपने देश और देश के लोगों से कोई प्यार नहीं। तुम्हें तो अपने भाइयों से भी प्यार नहीं!"

कहते-कहते बुद्धिप्रकाश उत्तेजित-से हो उठे। मैंने उन्हें शांत करने के लिए कहा, "छोड़िए, दादा, आजकल हवा ही कुछ ऐसी चल पड़ी है!"

"लेकिन यह तो देखो, शिवदत्त, कि यह हवा हमारा क्या-क्या उड़ाये लिये जा रही है! एक तुम थे, जो अपने पिता की मृत्यु के बाद अपने भाई-बहनों के लिए पढ़ाई छोड़कर

नौकरी करने लगे। पहले उनकी जिंदगी बनायी, फिर अपनी, फिर अपने बच्चों की। सोचो, स्थायी नौकरी न होती, तो क्या तुम यह सब कर सकते थे? पंकज जैसे लड़के किसकी जिंदगी बनायेंगे? अपनी ही जिंदगी क्या बना डाली है उन्होंने? समय पर खा नहीं सकते, चैन से सो नहीं सकते, दो मिनट फुर्सत से बैठकर बात नहीं कर सकते। दिन-रात काम करते हैं। और किसके लिए काम करते हैं? इस देश को लूटने वालों के लिए। यह क्या जिंदगी है?"

"मीडिया भी तो उनको यही सिखा रहा है, दादा!" मैंने उनका ध्यान बँटाने के लिए कहा।

"नहीं, शिवदत्त! आदमी पर मीडिया वगैरह का उतना असर नहीं होता, जितना इसका कि वह अपनी रोजी-रोटी कैसे कमाता है। अपने परिवार, समाज और देश से प्यार करने के लिए जरूरी है कि आदमी के जीवन में थोड़ा स्थायित्व हो, थोड़ी निश्चिंतता हो, थोड़ी फुर्सत हो। मेरा और तुम्हारा क्या संबंध था? फिर भी हमारा संबंध बना और आज तक बना हुआ है, सो कैसे? क्योंकि हम एक नौकरी में लंबे अरसे तक साथ रहे। और हमारी नौकरी स्थायी नौकरी थी। उसमें रहकर हम अपनी पारिवारिक और सामाजिक जिम्मेदारियों के बारे में सोच सकते थे, उन्हें निबाह सकते थे। जीवन भर की योजना बनाकर काम कर सकते थे। इसीलिए निश्चिंत और तनावरहित रहते थे। फुर्सत से बैठते थे। बातचीत करते थे। घूमते-फिरते थे। मनोरंजन करते थे। पढ़ते थे। अपने कर्मचारी संगठन का भी कुछ काम कर लेते थे। मुहल्ले-पड़ोस में भी लोगों के किसी काम आ जाते थे। देश और दुनिया की समस्याओं के बारे में भी सोचते थे।"

"यह सब तो अब बीते कल का सपना ही समझिए, दादा! देख नहीं रहे हैं, दुनिया किस गति से भाग रही है? यह गति अब कम तो होने से रही। बढ़ ही सकती है। शायद बढ़ेगी ही।"

बुद्धिप्रकाश कुछ देर के लिए चुप हो गये। फिर कुछ सोचते हुए-से बोले, "शिवदत्त, यह गति पूँजी की है, मनुष्य की नहीं। आज की दुनिया में बहुत-सी पूँजी उत्पादन में लगने के बजाय पूँजी के ही व्यापार में लगने लगी है। जिसे हम अपनी भाषा में पैसे से पैसा कमाना कहते हैं, वही। यह वित्तीय पूँजी का खेल है, एक तरह का जुआ या सट्टा, जो वैश्विक स्तर पर खेला जा रहा है। इस विश्वव्यापी जुए और सट्टे में हो यह रहा है कि पूँजी अत्यंत अस्थिर और चंचल हो गयी है। अरबों-खरबों की रकमें आज एक मिनट में दुनिया के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में चली जाती हैं। मुझे लगता है, यही

चीज हमारे जीवन में भी अस्थिरता पैदा कर रही है। हर तरफ भागमभाग मची है। लेकिन लगता है, किसी को पता नहीं है कि हमें जाना कहाँ है और जा कहाँ रहे हैं!"

"यह तो मैं भी समझता हूँ, दादा! लेकिन क्या पूँजी के इस खेल को रोका जा सकता है? जीवन की गति, जो एकाएक बहुत ही तेज हो गयी है, क्या अब किसी भी तरह से कम की जा सकती है?"

"इस बात को यों समझो, शिवदत्त, कि अधिक लोगों द्वारा अधिक समय में किये जाने वाले काम को कम लोगों के द्वारा कम से कम समय में कराने के लिए तेज रफ्तार वाली मशीन अपने-आप जीवन की गति बढ़ा देती हो, ऐसा नहीं है। मशीन से दस आदमियों का काम एक आदमी से और दस दिनों का काम एक दिन में ही कराया जाये, यह कतई जरूरी नहीं है। मान लो, उसी मशीन पर दस आदमी दस दिनों का काम करते हैं, तो एक दिन में एक आदमी को कितने कम समय तक काम करना पड़ेगा और उसके जीवन में कितनी फुर्सत हो जायेगी! कितना आराम! कितनी निश्चिंतता! हमेशा से कहीं ज्यादा!"

"लेकिन, दादा, ऐसा बेवकूफ कौन होगा, जो उस मशीन पर दस आदमियों से काम करायेगा? फिर उसे मशीन से फायदा ही क्या? वह ऐसी मशीन बनायेगा ही क्यों?"

"तो न बनाये!"

"फिर उसका मुनाफा?"

"मुनाफा कमाना क्या सृष्टि का शाश्वत नियम है?" बुद्धिप्रकाश ने मुस्कराते हुए कहा, "मशीन मनुष्यों के लिए है, मनुष्य मशीनों के लिए नहीं!"

मैं बुद्धिप्रकाश के विचारों को जानता था, इसलिए आगे बहस करना बेकार समझकर चुप रह गया। उनकी बातें मुझे अच्छी लगती थीं, सही भी, लेकिन वे मुझे आश्वस्त नहीं करती थीं, बेचैन कर देती थीं। और उन दिनों मैं वैसे ही काफी बेचैन था।

मैं दूरसंचार के जिस संस्थान में काम करता था, वह 'सरकार का कमाऊ पूत' कहलाता था, पर वही संस्थान अब करोड़ों के घाटे में आ गया था और सुनने में आ रहा था कि सरकार संस्थान को बंद करने या किसी निजी कंपनी के हाथ बेच देने पर विचार कर रही है। संस्थान के कर्मचारियों में दहशत फैली हुई थी। सब एक-दूसरे से कह रहे थे : अभी तक हमने हर साल करोड़ों का लाभ दिया है, अब अचानक हम घाटे में कैसे आ गये? सरकार अपने संस्थानों को नष्ट करके निजी कंपनियों को लाभ क्यों पहुँचा रही

है? क्या उसे मालूम नहीं कि ये कंपनियाँ देश की नहीं, केवल अपने लाभ की चिंता करती हैं? और ये विदेशी कंपनियाँ तो देश का धन लूटकर बाहर ले जाती हैं। क्या अपने देश की जनता को लुटवाना ही अब सरकार का काम रह गया है? हमारा अब क्या होगा? क्या हम बेरोजगार होकर सड़कों पर आ जायेंगे?

मुझे अपने पैरों के नीचे की जमीन धसकती हुई लग रही थी। मैं जल्दी ही रिटायर हो जाने वाला था। लेकिन, प्रोफेसर, क्या कोई अपनी मौत से एक भी सेकेंड पहले मरना चाहता है?

संस्थान के कर्मचारियों का संगठन सरकार की नीति का विरोध कर रहा था। उसके द्वारा आयोजित विरोध-प्रदर्शनों में जाकर मुझे राहत-सी महसूस होती थी। मैं अकेला नहीं हूँ, यह सोचकर कम से कम मेरा भय तो कम हो ही जाता था। फिर भी यह देखकर मेरी बेचैनी बढ़ जाती थी कि संगठन भी खास कुछ कर नहीं पा रहा है। संगठन के नेताओं में भी मुझे एक अजीब-सी पस्ती और हताशा दिखायी देती थी।

एक दिन मैंने अपने संगठन के एक नेता से बात की, तो उसने कहा, "क्या बतायें, शिवदत्त भाई, कुछ समझ में नहीं आता। चीजें इतनी आगे बढ़ चुकी हैं कि अब पीछे लौटकर आत्मनिर्भरता की नीति नहीं अपनायी जा सकती। सोवियत समाजवाद तो खत्म हो ही गया, चीन में भी समाजवाद के नाम पर पूँजीवाद ही चल रहा है। हमारे देश के कम्युनिस्ट नेता भी कहने लगे हैं कि हम समाजवाद नहीं ला रहे हैं, पूँजीवाद के अंतर्गत ही अपनी जनता को कुछ राहतें दिलाने के लिए काम कर रहे हैं। तुमने तो वह जमाना देखा है, जब कम्युनिस्ट नेताओं के नेतृत्व में हमारा संगठन कितना जुझारू संगठन हुआ करता था! कितनी बड़ी और लंबी लड़ाइयाँ लड़ते थे हम लोग! मगर समस्या यह है कि हम भी आज के वैश्विक पूँजीवाद के इशारों पर चलने को मजबूर हैं।"

मैं अपने उस नेता को वर्षों से जानता था। वह हमेशा प्रसन्न और आशावादी रहने वाला और हँसने-हँसाने वाला आदमी था। लेकिन उस दिन वह मुझे बड़ा गंभीर और गमगीन-सा लगा। मैंने उसकी बात सुनकर कहा, "क्या इस समस्या का कोई हल नहीं?"

"हल तो कोई न कोई जरूर होगा, पर ऐसा कोई हल ढूँढ़ने से रोकने के लिए लोगों को बाँट दिया गया है - वर्गों में, वर्णों में, धर्मों में, जातियों में, संप्रदायों में, दूसरी बहुत-सी चीजों में - ताकि वे आपस में ही लड़ते रहें।" नेता ने मायूसी के साथ कहा, "सबसे बड़ी बात यह है कि लोगों को रोजी-रोटी के पीछे इस तरह दौड़ा दिया गया है कि वे और

कुछ सोच ही न सकें। सार्वजनिक क्षेत्र में नौकरियाँ खत्म हो रही हैं और निजी क्षेत्र में अव्वल तो स्थायी नौकरियाँ नहीं, फिर ऐसे बड़े कारखाने और संस्थान भी नहीं, जहाँ लोग अपने कोई बड़े संगठन बना सकें। निजी क्षेत्र के मालिकों को, पता है, सबसे बुरी चीज क्या लगती है? लेबर प्रॉब्लम! सो वे ऑटोमेटिक मशीनों वाली ऐसी छोटी-छोटी इकाइयाँ लगाते हैं, जिनमें कम से कम लोगों की जरूरत हो। स्मॉल इज ब्यूटीफुल! समझे?"

इधर मैं अपने इन लड़कों को लेकर बहुत परेशान था। बड़ा लड़का गौरव एम.ए. और छोटा लड़का सौरभ बी.ए. कर चुका था, लेकिन दोनों बेरोजगार भटक रहे थे। पहले वे शांत, सौम्य, हँसमुख और अनुशासित लड़के थे, लेकिन इधर उनका रंग-ढंग काफी बदल गया था। गौरव खिन्न और खोया-खोया-सा रहने लगा था। अक्सर घर में पड़ा रहता और बहुत कम बोलता। दूसरी तरफ सौरभ झगड़ालू और आवारा-सा होता जा रहा था। कंप्यूटर का काम सीखने के बहाने घर से निकलता और रात को लौटता। कभी-कभी उसके मुँह से शराब की बदबू भी आती। मैंने सोचा कि इस तरह तो ये लड़के बर्बाद हो जायेंगे। सो मैंने अपने उस नेता से कहा कि वह मेरे लड़कों को कहीं नौकरी दिला दे।

"अजीब बात करते हो, यार! यहाँ की हालत देख नहीं रहे हो?" नेता ने बुरा-सा मुँह बनाकर कहा।

हालत वास्तव में खराब थी, प्रोफेसर! नयी भरती तो कभी की बंद हो चुकी थी, अब तो छँटनी की चर्चा चल रही थी। अलबत्ता छँटनी को एक नया नाम दे दिया गया था -वी.आर.एस., माने वॉलंटरी रिटायरमेंट स्कीम। मैं इसे "वी आर स्टुपिड्स" कहता था। मेरा कहना था कि यह तो ऐसी बात हुई कि जल्लाद फाँसी का फंदा लिये खड़ा है और कह रहा है कि लो, इसे तुम खुद ही अपने गले में डाल लो। और हम बेवकूफ जिस तरह बेगार को स्वरोजगार समझते हैं, उसी तरह छँटनी और बेरोजगारी को स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति समझते हैं!

मुझे अक्सर अपनी नौकरी की शुरूआत के दिन याद आते। तब भी मुझे छँटनी के भय ने सताया था और अब भी, जबकि मेरे रिटायर होने में कुछ ही महीने रह गये थे, छँटनी का भय सता रहा था। मगर तब और अब में कितना अंतर था! तब मुझे जीवनदान मिला था, पर अब मुझे क्या मिलने वाला था? अंपायर मनमानी कर रहे थे और खेल-प्रेमी दर्शक न जाने कहाँ चले गये थे! खेल का मैदान एक घमासान में बदल गया था, जिसका सिर-पैर कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।

तो, प्रोफेसर, हुआ यह कि मैं अपने लड़कों की नौकरी नहीं लगवा सका और स्वयं अपनी नौकरी से रिटायर हो गया। गौरव एम.ए. करके दो साल से बेरोजगार भटक रहा था। उसका हाल देख सौरभ ने बी.ए. करके पढ़ाई छोड़ दी और कंप्यूटर का कोर्स करने लगा। फिर दोनों ने एक दिन मुझसे कहा, "पापा, क्यों न इस आँगन की जगह एक कमरा बनाकर टेलीफोन बूथ खोल लिया जाये? हम दोनों के रोजगार की समस्या हल। कहीं जाना नहीं, आना नहीं। आराम से मेज-कुर्सी डालकर बैठे रहो। कोई फोन करने आये तो फोन करा दो और पैसे ले लो। इससे बढ़िया धंधा और क्या होगा?"

मैंने अपने जीवन भर के अनुभव, ज्ञान और सोच-विचार के आधार पर लड़कों को समझाया कि यह धंधा ठीक नहीं है। लड़के फिर भी न माने, बल्कि अपनी माँ से भी जोर डलवाने लगे, तो मैंने कहा, "देखो, छोटी से छोटी सरकारी नौकरी भी इससे बेहतर रहेगी।"

इस पर सौरभ तैश में आकर बोला, "पर सरकारी नौकरियाँ हैं कहाँ? भैया एम.ए. होकर भी दो साल से बेरोजगार भटक रहा है..."

गौरव ने छोटे भाई को रोकते हुए कहा, "वह सब हम देख लेंगे, पापा! बूथ पर हम दोनों बारी-बारी से बैठा करेंगे। आप तो बस, एक कमरा यहाँ बनवा दो और हमें कनेक्शन दिला दो।"

"मान क्यों नहीं लेते लड़कों की बात?" मेरी पत्नी ने भी कहा, "सरकारी नौकरियाँ क्या आँगन के पेड़ पर लटकते अमरूद हैं, जो तोड़कर इन्हें पकड़ा दोगे?"

हारकर मैंने अपना जमा-जोड़ा रुपया लगाकर आँगन को कमरे में बदलवाया, टेलीफोन विभाग के अपने परिचितों से कह-सुनकर पी.सी.ओ., एस.टी.डी. और आइ.एस.डी. का कनेक्शन दिलवाया और टेलीफोन बूथ खुलवा दिया।

प्रोफेसर, तुमने मेरा यह घर पहले नहीं देखा। जहाँ यह बूथ बना हुआ है, वहाँ पहले एक छोटा-सा आँगन था। थोड़ा-सा खुला आकाश। अमरूद का एक पेड़। नीबू की कुछ झाड़ियाँ। एक छोटी-सी क्यारी, जिसमें कभी गेंदा और गुलाबाँस खिलते, कभी बेला और रात की रानी महकती। कभी-कभी धनिया, पोदीना और मिर्च भी उगा लिये जाते। ऊपर से सर्दियों की धूप और गर्मियों की चाँदनी में लेटने-बैठने का सुख, जो दिल्ली में बहुत कम लोगों को नसीब होता है।

और अब उस जगह पर यह दफ्तरनुमा दुकान है, जो सुबह से रात तक खुली तो रहती है, पर अक्सर खाली ही रहती है। अब देखो, तुम इतनी देर से यहाँ बैठे मेरी बकबक सुन रहे हो, पर कोई ग्राहक आया? आयेगा कैसे? नजर उठाकर गली में देखो। ग्राहक तो पूरा टेलीफोन एक्सचेंज जेब में डाले या कान पर लगाये चले जा रहे हैं!

हाँ, प्रोफेसर, देखते-देखते टेक्नोलॉजी बदल गयी। टेलीफोन की जगह मोबाइल आ गया। तुम टी.वी. पर वह विज्ञापन देखते हो - 'कर लो दुनिया मुट्ठी में'? लेकिन जो लोग पी.सी.ओ. खोलकर बैठ गये, वे अब कहाँ जायें? भाड़ में या भट्ठी में?

पुराने जानकार मुझसे मजाक करते हैं, "तुमने तो, भाई, टेलीफोन विभाग से ऐसा नाता जोड़ा, जैसे नौकरी नहीं, शादी की हो। रिटायर होने के बाद भी उसी की सेवा कर रहे हो।"

मैं उन्हें क्या जवाब दूँ? सच्चाई यह है कि मैं अब पैंसठ साल की उम्र में ऐसी नौकरी कर रहा हूँ, जिसे नौकरी भी नहीं कहा जा सकता।

लड़कों ने शुरू-शुरू में तो बड़ा उत्साह दिखाया। आँगन में कमरा बनवाकर उसका दरवाजा गली में खुलवाया। बाहर पी.सी.ओ., एस.टी.डी. और आइ.एस.डी. के बड़े-बड़े साइनबोर्ड लगवाये। कमरे के अंदर काँच के दरवाजों वाले तीन साउंडप्रूफ बूथ बनवाये, जिनमें खड़े होकर तीन लोग एक साथ लोकल, एस.टी.डी. और आइ.एस.डी. की लाइनों पर बात कर सकें और उनकी आवाज एक-दूसरे को या बाहर किसी और को सुनायी न दे। अपने बैठने के लिए भी उन्होंने बढ़िया इंतजाम किया-दो मेजें, दो घूमने वाली कुर्सियाँ। एक सैटी और प्लास्टिक की कुछ कुर्सियाँ ग्राहकों के बैठने के लिए, मानो ग्राहकों की इतनी भीड़ उमड़ने वाली हो कि उन्हें अपनी बारी के आने की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी! गर्मी के दिनों में कमरे को ठंडा रखने के लिए पंखा लगवायें या कूलर, इस पर विचार किया गया और तय पाया गया कि "जहाँ इतना खर्च हो रहा है, थोड़ा और सही, ए.सी. ही लगवा लेते हैं।" सो ए.सी. भी लग गया।

लेकिन ग्राहक? दिन भर में दो-चार लोग ही फोन करने आते। गौरव और सौरभ ग्राहकों के इंतजार में बैठे बोर होते रहते। जल्दी ही दोनों को अहसास हो गया कि उनसे गलती हो गयी है। एक दिन मैंने सुना, दोनों भाई आपस में यही बात कर रहे थे :

"भैया, दुकान तो हमने खोल ली, पर ग्राहक कहाँ हैं?" सौरभ कह रहा था।

"आयेंगे। अभी हमारी दुकान को खुले दिन ही कितने हुए हैं!" गौरव ने उसे सांत्वना-सी देते हुए कहा।

"मुझे तो लगता है, हमसे गलती हो गयी है। आजकल कोई बिजनेस शुरू करने से पहले लोग मार्केट रिसर्च कराते हैं। हमने ऐसा कुछ नहीं किया!"

"एक पी.सी.ओ. के लिए मार्केट रिसर्च!" गौरव व्यंग्यपूर्वक हँसा।

सौरभ ने गंभीर होकर कहा, "हँसो मत, भैया! हमें यह काम शुरू करने से पहले कुछ चीजों पर विचार कर लेना चाहिए था।"

"जैसे?"

"एक तो यही कि हम अपना पी.सी.ओ. बाजार में नहीं, गली में खोल रहे हैं, जहाँ ग्राहकों के आने की संभावना कम है। दूसरी यह कि हमारा पी.सी.ओ. उस कॉलोनी में है, जहाँ पहले ही घर-घर में फोन है..."

"हाँ, लेकिन मैंने तो यह सोचा था कि पी.सी.ओ. का इस्तेमाल लोकल कॉल के लिए कम, ज्यादातर एस.टी.डी. और आइ.एस.डी. के लिए होता है।"

"जो भी हो, मुझे लगता है, हमने देर कर दी। टेलीफोन जब प्राइवेट पब्लिक हुआ था, तभी हमने अपना पी.सी.ओ. बना लिया होता, तो हमें नयी टेक्नोलॉजी का लाभ मिला होता। अब मोबाइल फोन के आ जाने से यह टेक्नोलॉजी पुरानी हो गयी है।"

"हाँ... तू ठीक कह रहा है, सौरभ! मोबाइल फोन तो पूरा एक टेलीफोन एक्सचेंज है, जिसे ग्राहक स्वयं चला सकता है!"

"और इतना छोटा भी कि तुम उसे जेब में रखकर घूम सकते हो और कहीं भी साथ ले जा सकते हो।"

"हाँ... सा बेतार, जिसके तार सारी दुनिया से जुड़े हैं!"

"तो जिनके पास मोबाइल हैं, वे पी.सी.ओ. पर क्यों आयेंगे?"

जरा सोचो, प्रोफेसर, अपने बेटों का यह वार्तालाप सुनकर मुझे कैसा लगा होगा! मैंने लड़कों से तो कुछ नहीं कहा, अपनी पत्नी को बताया कि लो, सिर मुँड़ाते ही ओले पड़ गये!

पत्नी घबरा गयी, "क्या बूथ बनाने में जो पैसा लगा, सब पानी में गया? इससे तो अच्छा होता, इन लड़कों ने इस जगह में चाट-पकौड़ी की दुकान खोल ली होती। लागत भी कम लगती और ग्राहकों की भी कमी न रहती। खाने-पीने की कोई दुकान कहीं भी खोल लो, चल ही जाती है।"

"पर तुम्हारे ये पढ़े-लिखे लाड़ले चाट-पकौड़ी बेचेंगे?"

"तो अब क्या होगा?"

"मुझे क्या पता! मैंने तो उनका और तुम्हारा कहना मानकर बूथ खुलवा दिया। अब वे जानें और तुम जानो। नौकरी नहीं करेंगे, अपना ही बिजनेस करेंगे! लो, कर लो अपना बिजनेस!"

लेकिन जल्दी ही दोनों लड़के अपना यह बिजनेस मेरे सिर पर डालकर भाग खड़े हुए। गौरव ने गुड़गाँव के एक कॉल सेंटर में और सौरभ ने नेहरू प्लेस की एक कंप्यूटर कंपनी में नौकरी कर ली है। और मुझे यहाँ बिठा दिया है कि दिन भर बैठा मक्खियाँ मारता रहूँ।

हाँ, अब यह एक और नयी चीज हमारे जीवन में आ गयी है, प्रोफेसर! कॉल सेंटर! अमरीका और यूरोप की कंपनियाँ अपने ग्राहकों की सेवा के लिए हमारे देश के लड़के-लड़कियों को नौकर रखती हैं, पर नौकरी करने के लिए वहाँ नहीं बुलातीं, यहीं एक कॉल सेंटर बनाती हैं और उन्हें एक-एक फोन और कंप्यूटर देकर बिठा देती हैं कि लो, दूरसंचार की तकनीक से यहीं बैठे-बैठे हमारे ग्राहकों की सेवा करो। इतना ही नहीं, वे अपने ग्राहकों को यह धोखा भी देती हैं कि उनकी बात वहीं पर स्थानीय लड़के-लड़कियों से हो रही है। इसके लिए कॉल सेंटर वाले लोग हमारे बच्चों को वहाँ के उच्चारण में बोलना तो सिखाते ही हैं, इनके नाम भी बदल देते हैं। हरीश को हैरी बना दिया जाता है और मीरा को मैरी। गौरव वहाँ गैरी बनकर विदेशियों की गुलामी करता है। कॉल सेंटर वैसे तो चौबीसों घंटे खुला रहता है, लेकिन वहाँ ज्यादातर काम रात में होता है, क्योंकि जिस समय उन देशों में दिन होता है, हमारे यहाँ रात होती है। इसलिए गौरव अक्सर रात की ड्यूटी करने जाता है। सुबह थका हुआ आता है और दिन भर सोता है। प्रोफेसर, यह क्या जिंदगी है? और यह कैसी नौकरी है? मैं उससे कहता हूँ, "तेरी माँ ठीक कहती थी। ऐसी नौकरी से तो चाट-पकौड़ी की दुकान खोल लेना ही बेहतर होता। कम से कम अपने ढंग से अपनी जिंदगी तो जीता। विदेशियों की यह गुलामी तो न करता!"

लेकिन, पता है, देश की बात करने पर वह क्या कहता है? कहता है, "आपके जमाने में दुनिया सिर्फ गोल होती थी, अब ग्लोबल हो गयी है। अब हम किसी एक देश के नहीं, सारी दुनिया के हैं।"

और सौरभ की बातें सुनो। वह कंप्यूटर का कोर्स करके सॉफ्टवेयर इंजीनियर हो गया है। वेब डिजाइनर। माने वेबसाइट बनाता है। चूँकि उसका काम ही वर्ल्डवाइड वेब बनाना है, इसलिए वह तो गौरव से भी ज्यादा ग्लोबल हो गया है। उसके लिए दुनिया में सबसे बड़ी चीज है सूचना और ज्यादा से ज्यादा सूचना को जल्दी से जल्दी दुनिया भर में कहीं से कहीं को भेज देने की तकनीक! मुझसे कहता है, "पापा, आपका जमाना सिर्फ दूरसंचार का जमाना था, आज का जमाना सूचना और दूरसंचार का जमाना है। आपके जमाने में आइ.टी., माने इन्फॉर्मेशन टेक्नोलॉजी अलग थी और टेलीकम्युनिकेशन टेक्नोलॉजी अलग। आज के जमाने में दोनों मिलकर एक हो गयी हैं - आइ.सी.टी., माने इन्फॉर्मेशन एंड कम्युनिकेशंस टेक्नोलॉजी। यह आज की दुनिया की सबसे बड़ी और सबसे महत्त्वपूर्ण टेक्नोलॉजी है। आप समझो कि आज की दुनिया इसी के दम पर चल रही है।"

"लेकिन कैसे चल रही है, यह तो देखो!" मैं उससे कहता हूँ, "इस टेक्नोलॉजी के सैकड़ों नमूने मैं अपनी गली में दिन भर अपनी आँखों के सामने से गुजरते देखता हूँ। जिसे देखो, मोबाइल फोन पर बात करता चला जा रहा है। मुझे तो नहीं लगता कि वे सब बहुत जरूरी बातें करते होंगे। शौक और फैशन की चीज है मोबाइल फोन। खास तौर से जवान लड़के-लड़कियों के लिए। लेकिन क्या वे जानते हैं कि उनका यह शौक और फैशन उन्हें या उनके माता-पिता को कितना महँगा पड़ रहा है? जिस कंपनी का मोबाइल वे कान से सटाये घूम रहे हैं, वह कंपनी उनके द्वारा की जा रही बातचीत के हर सेकेंड का मनचाहा दाम वसूल कर रही है और उन्हें पता भी नहीं चल रहा है कि यह पैसा कहाँ से आ रहा है और कहाँ जा रहा है। फिर टी.वी. पर देखो, हर वक्त कोई न कोई कार्यक्रम लोगों से कह रहा होता है कि इस बात पर अपनी राय जाहिर करने के लिए हमें एस.एम.एस. भेजिए और भेजते हैं लोग। हजारों-लाखों एस.एम.एस.। और उन्हें पता भी नहीं चलता कि मोबाइल फोन वाली कंपनियाँ टी.वी. वालों की मिलीभगत से उन्हें बेवकूफ बनाकर उनका कितना पैसा खींच रही हैं!"

लेकिन सौरभ कहता है, "पापा, आपकी बातें अपनी जगह सही हैं, पर आप मोबाइल फोन का केवल एक पक्ष देख रहे हैं। आप यह भी देखिए कि मोबाइल फोन अब रोजी-रोटी कमाने का एक साधन बन गया है। बड़े लोगों की बात छोड़िए, प्लंबर, पेंटर, कारपेंटर, धोबी, दूधवाले और चायवाले जैसे मामूली लोगों का काम भी अब मोबाइल

फोन के बिना नहीं चलता। टेलीफोन पहले कभी थोड़े-से बड़े लोगों के काम की चीज रही होगी, पर आज सब लोगों के काम की चीज है। इसी तरह इंटरनेट आज थोड़े-से लोगों के काम की चीज है, कल वह सब लोगों के काम की चीज हो जायेगा। दुनिया सचमुच एक ग्लोबल गाँव बन गयी है, पापा!"

मैं पूछता हूँ, "अगर दुनिया एक गाँव है, तो इस गाँव की पंचायत कहाँ है? इसका प्रशासन कौन चलाता है? सचमुच के गाँव में एक मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले में जाने के लिए किसी की इजाजत नहीं लेनी पड़ती। वीजा और पासपोर्ट की जरूरत नहीं पड़ती। मगर तुम्हारे ग्लोबल गाँव में तो इजाजत लेनी पड़ती है। वीजा और पासपोर्ट बनवाना पड़ता है। क्यों भाई? और फिर, जब सबका एक ही गाँव है, तो सब मिल-जुलकर क्यों नहीं रहते? एक-दूसरे की मदद क्यों नहीं करते? बड़े छोटों को लूटने में क्यों लगे रहते हैं? ताकतवर कमजोरों पर क्यों चढ़ बैठते हैं? दादा और दारोगा बना हुआ एक देश दुनिया भर को धमकाता क्यों रहता है?"

लेकिन सौरभ कहता है, "पापा, आप जो कह रहे हैं, वह किसी आदर्श गाँव की कल्पना के आधार पर कह रहे हैं। आपके दिमाग में एक यूटोपिया है, माने भविष्य का एक स्वप्न, कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। आपके यूटोपिया के मुताबिक दुनिया ऐसी होनी चाहिए, जिसमें एक देश से दूसरे देश जाने में कोई रोक-टोक न हो, सारी दुनिया के लोग मिल-जुलकर रहें, एक-दूसरे की मदद करें, देशों के बीच छोटे-बड़े का या कमजोर और ताकतवर का भेद न हो, उस भेद के आधार पर कोई देश किसी दूसरे देश पर आक्रमण न करे, आधिपत्य न जमाये। यही न? लेकिन ऐसी दुनिया बनेगी कैसे? किस आधार पर? आपकी आप जानें, मैं तो यह सोचता हूँ कि ऐसी दुनिया अगर बनी, तो आइ.सी.टी., माने सूचना और दूरसंचार की टेक्नोलॉजी के आधार पर ही बनेगी। इसी के जरिये दुनिया के लोग अपने-अपने देशों या राष्ट्रों की सीमाएँ लाँघकर एक-दूसरे से हाथ मिला सकेंगे, एक-दूसरे को जान और समझ सकेंगे, एक-दूसरे की समस्याओं को मिल-जुलकर हल करने में समर्थ हो सकेंगे।"

समझे, प्रोफेसर? ये आजकल के लड़के जितने विचारशून्य लगते हैं, उतने विचारशून्य हैं नहीं। मैंने बुद्धिप्रकाश को ये बातें बतायीं, तो उन्होंने कहा, "लड़के की बातों में दम है।"

"लेकिन, दादा, उसे यह तो सोचना चाहिए कि इस टेक्नोलॉजी पर कब्जा किसका है और यह किन लोगों को या किन देशों को लाभ पहुँचाती है? क्या वे दुनिया के तमाम लोगों को मिल-जुलकर अपनी समस्याएँ हल करने की आजादी देंगे?"

इस पर बुद्धिप्रकाश ने कहा, "आजादी कभी अपने-आप नहीं मिलती, शिवदत्त! संघर्ष करके लेनी पड़ती है। टेक्नोलॉजी उस संघर्ष में हमारी मदद कर सकती है, लेकिन संघर्ष तो हम को ही करना पड़ेगा। और दुनिया के सामने आज ऐसी समस्याएँ पैदा हो गयी हैं - आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और प्राकृतिक कई तरह की समस्याएँ - जिन्हें किसी एक देश के या कुछ गिने-चुने देशों के लोग नहीं, बल्कि सारी दुनिया के लोग मिल-जुलकर ही हल कर सकते हैं।"

बुद्धिप्रकाश से मेरी भेंट इस बार एक अरसे बाद हुई थी। इस बीच मैं यह महसूस करने लगा था कि गौरव और सौरभ तो अपनी-अपनी नौकरी कर रहे हैं और मैं उनके द्वारा खुलवाये गये टेलीफोन बूथ में सुबह से शाम तक बेकार बैठा रहता हूँ। जब से ग्राहकों का आना कम होते-होते लगभग बंद-सा हो गया था, मुझे लगने लगा था कि जैसे रिटायर होने के बाद मैं इस बूथ पर नौकरी करने लगा था, लेकिन अब बूथ बंद होने को है और मैं बेरोजगार हो जाने वाला हूँ। यह एक अजीब-सा अहसास था। स्वप्न और यथार्थ के घालमेल जैसा। वास्तविक और अवास्तविक के मिलने से पैदा हुए धुँधलके जैसा, जिसमें मुझे स्वयं को ही यह विश्वास दिलाना पड़ता था कि मैं तो आजाद हूँ। अपनी मर्जी से बूथ पर बैठता हूँ। किसी की चाकरी नहीं कर रहा हूँ। रिटायरमेंट के बाद का खाली वक्त गुजारने का शगल है यह बूथ। बस, और कुछ नहीं। ग्राहक आयें या न आयें, आमदनी हो या न हो, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं तो यहाँ गली से गुजरते लोगों के नजारे देखने और प्रोफेसर जैसे भले लोगों से गपशप करने के लिए बैठता हूँ। लेकिन पत्नी कहती, "तुम्हारा पी.सी.ओ. तो फेल हो गया। मेरी मानो, तो पी.सी.ओ. का तामझाम हटाकर दुकान किराये पर उठा दो। पी.सी.ओ. बनाने पर जो खर्चा हुआ, उसकी कुछ भरपाई तो हो!" तब मुझे लगता कि वह भी ठीक ही कह रही है।

मैं क्या करूँ, कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा था। मैंने बुद्धिप्रकाश को सारी बात बताकर उनसे सलाह माँगी, तो उन्होंने कहा, "अभी मैं कुछ नहीं कह सकता। यह बताओ कि गौरव और सौरभ एक साथ घर पर कब मिल सकते हैं? मैं उन दोनों से बात करना चाहता हूँ।"

मैंने कहा, "परसों दोनों अपनी माँ का जन्मदिन मनाने के लिए एक साथ घर में मौजूद रहेंगे। आप भी मिठाई खाने आ जाइए।"

और बुद्धिप्रकाश आये। जन्मदिन मनाया जा चुका, तो मैंने चर्चा छेड़ी कि दुकान का क्या किया जाये। मैंने कहा, "अब यह तो हो नहीं सकता कि कनेक्शन कटवा दिये

जायें, कमरा तुड़वा दिया जाये और फिर से आँगन में धूप और हवा का आनंद लिया जाये। और यह भी नहीं हो सकता कि यहाँ चाट-पकौड़ी की दुकान खोल ली जाये। मैं यह भी नहीं चाहता कि दुकान बंद कर दी जाये या किराये पर उठा दी जाये। पर यह भी नहीं समझ पा रहा हूँ कि इस दुकान का किया क्या जाये।"

सौरभ ने कहा, "मैंने और भैया ने इस पर कुछ विचार किया है, पापा! हमारा विचार यह है कि पी.सी.ओ. को बिलकुल बंद न किया जाये, बल्कि नवीनतम टेक्नोलॉजी लगाकर इसे अपडेट किया जाये।"

मैंने पूछा, "कैसे?"

उसने कहा, "हम यहाँ एक कंप्यूटर लगायेंगे और अपने ग्राहकों को फोन के अलावा फैक्स और ई-मेल की सुविधा भी देंगे। उसी कंप्यूटर पर मैं अपना वेब डिजाइनिंग का काम भी करूँगा। काम चल पड़ा, तो कुछ और कंप्यूटर लेकर यहाँ पर एक ट्रेनिंग सेंटर खोल लिया जायेगा, जिसे हम दोनों भाई मिलकर चलायेंगे।"

"लेकिन..." मैंने कहा, "अबकी बार तुम दोनों अच्छी तरह सोच लो। चाहो तो पहले कुछ मार्केट रिसर्च भी कर लो, ताकि बाद में पछताना न पड़े। कहीं ऐसा न हो कि जैसे पी.सी.ओ. छोड़ भागे, वैसे ही ट्रेनिंग सेंटर छोड़ भागो। पी.सी.ओ. तो मैंने जैसे-तैसे सँभाल लिया, तुम्हारा ट्रेनिंग सेंटर मैं नहीं सँभाल सकूँगा। कंप्यूटर टेक्नोलॉजी मेरे लिए काला अक्षर भैंस बराबर है।"

गौरव ने कहा, "हमने सोच लिया है, पापा! हम न तो इस काम को छोड़कर भागेंगे और न आपको दुकान पर बैठने को कहेंगे। लेकिन कंप्यूटर और इंटरनेट पर काम करना इतना आसान है कि आप दो दिन में सीख लेंगे। और जब करने लगेंगे, तो आपका मन भी उसमें खुद-ब-खुद लग जायेगा।"

मैंने कहा, "नहीं, बाबा, मुझे माफ करो। मैंने जिंदगी भर काम किया है। अब मैं थक गया हूँ। रिटायर्ड ही नहीं, टायर्ड भी हूँ। और मुझसे भी ज्यादा थकी हुई है तुम्हारी माँ। मैंने तो अपनी सरकारी नौकरी में रहने के कारण बीच-बीच में कुछ छुट्टियाँ मना भी लीं, पर तुम्हारी माँ तो जब से इस घर में आयी है, एक दिन की भी छुट्टी मनाये बिना बराबर खट रही है। उसे भी अब कुछ आराम की जरूरत है।"

"तुमसे किसने कहा कि मैं थक गयी हूँ?" मेरी पत्नी ने मुझे टोकते हुए कहा, "अपने घर के काम में कोई थकता है? मैं तो उस दिन का इंतजार कर रही हूँ, जब घर में बहुएँ आयेंगी और मैं दादी बनकर बच्चों को खिलाऊँगी!"

बुद्धिप्रकाश ने भी मुझे आड़े हाथों लिया। बोले, "यह क्या, शिवदत्त, उस दिन तुमने क्या कहा था और आज क्या कह रहे हो! उस दिन तुमने कहा था कि तुम्हारा पी.सी.ओ. नहीं चल रहा है और तुम्हें बेरोजगार हो जाने जैसा लग रहा है, आज तुम संन्यासी हो जाने की-सी बातें कर रहे हो। भई, मुझे तो इन दोनों भाइयों का विचार बहुत बढ़िया लगा। और तुम शुक्र करो कि बुढ़ापे में बेरोजगार होने से बच गये... या तुम्हारी छँटनी होते-होते रह गयी... या जैसा कि तुम कहा करते थे, खेल में आउट होते-होते तुम्हें जीवनदान मिल गया।"

"लेकिन, दादा, अपन तो गली-मोहल्ले में क्रिकेट खेलने वाले बच्चों जैसे ठहरे, जबकि ये लड़के वर्ल्ड कप के मुकाबले में जाने जैसी बात कर रहे हैं!"

"अब ऐसी ही बातों का जमाना है, शिवदत्त! आजकल कहा जाने लगा है - पर्सनल इज पॉलिटिकल। उसी तर्ज पर तुम कह सकते हो - प्राइवेट इज पब्लिक, लोकल इज ग्लोबल!"

मेरी समझ में तो उनकी यह बात नहीं आयी, प्रोफेसर, तुम क्या कहते हो?

https://www.hindiadda.com/private-public/